232

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीरामगीता

(सटीक)

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीरामगीता

नीलोत्पलनिभो रामो लक्ष्मणः कैरवोपमः।
मानसे राजतां मे तौ बोधवैराग्यविग्रहौ॥

उपोद्घात

श्रीमहादेव उवाच

ततो जगन्मङ्गलमङ्गलात्मना
विधाय रामायणकीर्तिमुत्तमाम्।
चचार पूर्वाचरितं रघूत्तमो
राजर्षिवर्यैरभिसेवितं यथा॥ १॥

श्रीमहादेवजी बोले—हे पार्वति! तदनन्तर, रघुश्रेष्ठ भगवान् राम, संसारके मंगलके लिये धारण किये अपने दिव्यमंगल देहसे रामायणरूप

अति उत्तम कीर्तिकी स्थापना कर पूर्वकालमें राजर्षिश्रेष्ठोंने जैसा आचरण किया है वैसा ही स्वयं भी करने लगे॥ १ ॥

सौमित्रिणा पृष्ट उदारबुद्धिना
रामः कथाः प्राह पुरातनीः शुभाः।
राज्ञः प्रमत्तस्य नृगस्य शापतो
द्विजस्य तिर्यक्त्वमथाह राघवः॥ २ ॥

उदारबुद्धि लक्ष्मणजीके पूछनेपर वे प्राचीन उत्तम कथाएँ सुनाया करते थे। इसी प्रसंगमें श्रीरघुनाथजीने, राजा नृगको प्रमादवश ब्राह्मणके शापसे तिर्यग्योनि प्राप्त होनेका वृत्तान्त भी सुनाया॥ २ ॥

कदाचिदेकान्त उपस्थितं प्रभुं
रामं रमालालितपादपङ्कजम्।
सौमित्रिरासादितशुद्धभावनः
प्रणम्य भक्त्या विनयान्वितोऽब्रवीत्॥ ३ ॥

किसी दिन भगवान् राम, जिनके चरण-कमलोंकी सेवा साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी करती हैं, एकान्तमें बैठे हुए थे। उस समय शुद्ध विचारवाले लक्ष्मणजीने (उनके पास जा) उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम कर अति विनीतभावसे कहा— ॥ ३ ॥

त्वं शुद्धबोधोऽसि हि सर्वदेहिना-
मात्माऽस्यधीशोऽसि निराकृतिः स्वयम्।
प्रतीयसे ज्ञानदृशां महामते
पादाब्जभृङ्गाहितसङ्गसङ्गिनाम् ॥ ४ ॥

"हे महामते! आप शुद्धज्ञानस्वरूप, समस्त देहधारियोंके आत्मा, सबके स्वामी और स्वरूपसे निराकार हैं। जो आपके चरणकमलोंके लिये भ्रमररूप हैं, उन परमभागवतोंके सहवासके रसिकोंको ही आप ज्ञानदृष्टिसे दिखलायी देते हैं" ॥ ४ ॥

अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुजं प्रभो
भवापवर्गं तव योगिभावितम्।
यथाञ्जसाऽज्ञानमपारवारिधिं
सुखं तरिष्यामि तथानुशाधि माम्॥ ५॥

हे प्रभो! योगिजन जिनका निरन्तर चिन्तन करते हैं, संसारसे छुड़ानेवाले उन आपके चरणकमलोंकी मैं शरण हूँ, आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिससे मैं सुगमतासे ही अज्ञानरूपी अपार समुद्रके पार हो जाऊँ॥ ५॥

उपदेशका आरम्भ

श्रुत्वाऽथ सौमित्रिवचोऽखिलं तदा
प्राह प्रपन्नार्तिहरः प्रसन्नधीः।
विज्ञानमज्ञानतमःप्रशान्तये
श्रुतिप्रपन्नं क्षितिपालभूषणः ॥ ६ ॥

श्रीलक्ष्मणजीकी ये सारी बातें सुनकर शरणागतवत्सल भूपालशिरोमणि भगवान् राम, सुननेके लिये उत्सुक हुए लक्ष्मणको उनके अज्ञानान्धकारका नाश करनेके लिये प्रसन्नचित्तसे ज्ञानोपदेश करने लगे ॥ ६ ॥

गुरूपसत्ति

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः
कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः
समाश्रयेत्सद्गुरुमात्मलब्धये ॥ ७ ॥

(वे बोले—) सबसे पहले अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये (शास्त्रोंमें) बतलायी हुई क्रियाओंका यथावत् पालनकर चित्त शुद्ध हो जानेपर उन कर्मोंको छोड़ दे और शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न हो आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी शरणमें जाय ॥ ७ ॥

ज्ञान और कर्मकी मीमांसा

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः॥ ८॥

कर्म देहान्तरकी प्राप्तिके लिये ही स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि उनमें प्रेम रखनेवाले पुरुषोंसे इष्ट-अनिष्ट दोनों ही प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं। उनसे धर्म और अधर्म दोनोंहीकी प्राप्ति होती है और उनके कारण शरीर प्राप्त होता है जिससे फिर कर्म होते हैं। इसी प्रकार यह संसार चक्रके समान चलता रहता है॥ ८॥

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं
तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी
न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्॥ ९॥

संसारका मूल कारण अज्ञान ही है और इन (शास्त्रीय) विधिवाक्योंमें उस (अज्ञान)-का नाश ही (संसारसे मुक्त होनेका) उपाय बतलाया गया है। अज्ञानका नाश करनेमें ज्ञान ही समर्थ है, कर्म नहीं, क्योंकि उस (अज्ञान)-से उत्पन्न होनेवाला कर्म उसका विरोधी नहीं हो सकता*॥ ९॥

* 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' अर्थात् जो कार्य जिस सम्बन्धसे उत्पन्न होता है वह उस सम्बन्धके नाशका कारण नहीं हो सकता। इसी न्यायके अनुसार अज्ञानसे उत्पन्न कर्मके द्वारा अज्ञान नष्ट नहीं हो सकता।

नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो
भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत्।
ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता
तस्माद् बुधो ज्ञानविचारवान्भवेत्॥ १०॥

कर्मद्वारा अज्ञानका नाश अथवा रागका क्षय नहीं हो सकता बल्कि उससे दूसरे सदोष कर्मकी उत्पत्ति होती है। उससे पुनः संसारकी प्राप्ति होना अनिवार्य है। इसलिये बुद्धिमान्‌को ज्ञानविचारमें ही तत्पर होना चाहिये॥ १०॥

ननु क्रिया वेदमुखेन चोदिता
तथैव विद्या पुरुषार्थसाधनम्।
कर्तव्यता प्राणभृतः प्रचोदिता
विद्यासहायत्वमुपैति सा पुनः॥ ११॥
कर्माकृतौ दोषमपि श्रुतिर्जगौ
तस्मात्सदाकार्यमिदं मुमुक्षुणा।

न·। स्वतन्त्रा ध्रुवकार्यकारिणी
विद्या न किञ्चिन्मनसाप्यपेक्षते ॥ १२ ॥
न सत्यकार्योऽपि हि यद्वदध्वरः
प्रकाङ्क्षतेऽन्यानपि कारकादिकान्।
तथैव विद्या विधितः प्रकाशितै-
र्विशिष्यते कर्मभिरेव मुक्तये ॥ १३ ॥

कुछ वितर्कवादी ऐसा कहते हैं कि—जिस प्रकार वेदके कथनानुसार ज्ञान पुरुषार्थका साधक है वैसे ही कर्म वेदविहित हैं; और प्राणियोंके लिये कर्मोंकी अवश्य-कर्तव्यताका विधान भी है, इसलिये वे कर्म ज्ञानके सहकारी हो जाते हैं। साथ ही श्रुतिने कर्म न करनेमें दोष भी बतलाया है; इसलिये मुमुक्षुको कर्म सदा ही करते रहना चाहिये, और यदि कोई कहे कि ज्ञान स्वतन्त्र है एवं निश्चय ही अपना फल देनेवाला है, उसे मनसे भी किसी औरकी

सहायताकी आवश्यकता नहीं है तो उसका यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार (वेदोक्त) यज्ञ सत्य कर्म होनेपर भी अन्य कारकादिकी अपेक्षा करता ही है, उसी प्रकार विधिसे प्रकाशित कर्मोंके द्वारा ही ज्ञान मुक्तिका साधक हो सकता है। (अतः कर्मोंका त्याग उचित नहीं है) ॥ ११—१३ ॥

केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिन-
स्तदप्यसद्दृष्टविरोधकारणात् ।
देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया
विद्या गताऽहङ्कृतितः प्रसिद्ध्यति ॥ १४ ॥

(सिद्धान्ती—) ऐसा जो कोई कुतर्की कहते हैं उनके कथनमें प्रत्यक्ष विरोध होनेके कारण वह ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म देहाभिमानसे होता है और ज्ञान अहंकारके नाश होनेपर सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

विशुद्धविज्ञानविरोचनाञ्चिता
विद्याऽऽत्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते।
उदेति कर्माखिलकारकादिभि-
र्निहन्ति विद्याऽखिलकारकादिकम्॥ १५॥

(वेदान्तवाक्योंका विचार करते-करते) विशुद्ध विज्ञानके प्रकाशसे उद्भासित जो चरम आत्मवृत्ति होती है उसीका नाम विद्या (आत्मज्ञान) है। इसके अतिरिक्त कर्म सम्पूर्ण कारकादिकी सहायतासे होता है, किन्तु विद्या समस्त कारकादिका (अनित्यत्वकी भावनाद्वारा) नाश कर देती है॥१५॥

तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधी-
र्विद्याविरोधान्न समुच्चयो भवेत्।
आत्मानुसन्धानपरायणः सदा
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरः ॥ १६॥

इसलिये समस्त इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त होकर निरन्तर आत्मानुसन्धानमें लगा हुआ बुद्धिमान् पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे। क्योंकि विद्याका विरोधी होनेके कारण कर्मका उसके साथ समुच्चय नहीं हो सकता॥ १६ ॥

यावच्छरीरादिषु माययाऽऽत्मधी-
स्तावद्विधेयो विधिवादकर्मणाम्।
नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्य तज्
ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः॥ १७॥

जबतक मायासे मोहित रहनेके कारण मनुष्यका शरीरादिमें आत्मभाव है तभीतक उसे वैदिक कर्मानुष्ठान कर्तव्य है। 'नेति-नेति' आदि वाक्योंसे सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंका निषेध करके अपने परमात्मस्वरूपको जान लेनेपर फिर उसे समस्त कर्मोंको छोड़ देना चाहिये॥ १७॥

यदा परात्मात्मविभेदभेदकं
विज्ञानमात्मन्यवभाति भास्वरम्।
तदैव माया प्रविलीयतेऽञ्जसा
सकारका कारणमात्मसंसृतेः॥ १८॥

जिस समय परमात्मा और जीवात्माके भेदको दूर करनेवाला प्रकाशमय विज्ञान अन्तःकरणमें स्पष्टतया भासित होने लगता है उसी समय आत्माके लिये संसार-प्राप्तिकी कारण माया अनायास ही कारकादिके सहित लीन हो जाती है॥ १८॥

श्रुतिप्रमाणाभिविनाशिता च सा
कथं भविष्यत्यपि कार्यकारिणी।
विज्ञानमात्रादमलाद्द्वितीयत-
स्तस्मादविद्या न पुनर्भविष्यति॥ १९॥

श्रुति-प्रमाणसे उसके नष्ट कर दिये जानेपर

फिर वह किस प्रकार अपना कार्य करनेमें समर्थ हो सकती है? इसलिये उस एकमात्र ज्ञानस्वरूप निर्मल और अद्वितीय बोधकी प्राप्ति होनेपर फिर अविद्या उत्पन्न नहीं हो सकती॥ १९॥

यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसूयते
कर्ताऽहमस्येति मतिः कथं भवेत्।
तस्मात्स्वतन्त्रा न किमप्यपेक्षते
विद्या विमोक्षाय विभाति केवला॥ २०॥

जब एक बार नष्ट हो जानेपर अविद्याका फिर जन्म ही नहीं होता तो बोधवान्‌को 'मैं कर्ता हूँ' ऐसी बुद्धि कैसे हो सकती है? इसलिये ज्ञान स्वतन्त्र है, उसे जीवके मोक्षके लिये किसी और (कर्मादि) की अपेक्षा नहीं है, वह स्वयं अकेला ही उसके लिये समर्थ है॥ २०॥

सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं
न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम्।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुति-
र्ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम्॥ २१॥

इसके सिवा तैत्तिरीय शाखाकी प्रसिद्ध श्रुति[1] भी स्पष्ट कहती है कि समस्त कर्मोंका त्याग करना ही अच्छा है, तथा 'एतावत्' इत्यादि वाजसनेयी शाखाकी श्रुति[2] भी कहती है कि मोक्षका साधन ज्ञान ही है कर्म नहीं॥ २१॥

विद्यासमत्वेन तु दर्शितस्त्वया
क्रतुर्न दृष्टान्त उदाहृतः समः।

१-'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।'
(तै० आ० प्र० १० अ० १०)

२-'एतावदरे खल्वमृतत्वम्'
(बृ० उ० ४।५।१५)

फलैः पृथक्त्वाद्बहुकारकैः क्रतुः
संसाध्यते ज्ञानमतो विपर्ययम्॥ २२॥

और तुमने जो ज्ञानकी समानतामें यज्ञादिका दृष्टान्त दिया सो ठीक नहीं है, क्योंकि उन दोनोंके फल अलग-अलग हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञ तो (होता, ऋत्विक्, यजमान आदि) बहुत-से कारकोंसे सिद्ध होता है और ज्ञान इससे विपरीत है (अर्थात् वह कारकादिसे साध्य नहीं है)॥ २२॥

सप्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधी-
रज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः।
तस्माद् बुधैस्त्याज्यमविक्रियात्मभि-
र्विधानतः कर्म विधिप्रकाशितम्॥ २३॥

(कर्मके त्याग करनेसे) मैं अवश्य

प्रायश्चित्तभागी होऊँगा—ऐसी अनात्म-बुद्धि अज्ञानियोंको हुआ करती है, तत्त्वज्ञानीको नहीं। इसलिये विकाररहित चित्तवाले बोधवान् पुरुषको विहित कर्मोंका भी विधिपूर्वक त्याग कर देना चाहिये॥ २३॥

महावाक्य-विचार

श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो
गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः।
विज्ञाय चैकात्म्यमथात्मजीवयोः
सुखी भवेन्मेरुरिवाप्रकम्पनः॥ २४॥

फिर शुद्धचित्त होकर श्रद्धापूर्वक गुरुकी कृपासे 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यके द्वारा परमात्मा और जीवात्माकी एकता जानकर सुमेरुके समान निश्चल एवं सुखी हो जाय॥ २४॥

आदौ पदार्थावगतिर्हि कारणं
वाक्यार्थविज्ञानविधौ विधानतः।
तत्त्वम्पदार्थौ परमात्मजीवका-
वसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत्॥ २५॥

यह नियम ही है कि प्रत्येक वाक्यका अर्थ जाननेमें पहले उसके पदोंके अर्थका ज्ञान

ही कारण है। इस 'तत्त्वमसि' महावाक्यके 'तत्' और 'त्वम्' पद क्रमसे परमात्मा और जीवात्माके वाचक हैं और 'असि' उन दोनोंकी एकता करता है॥ २५॥

प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनो-
र्विहाय संगृह्य तयोश्चिदात्मताम्।
संशोधितां लक्षणया च लक्षितां
ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत्॥ २६॥

इन दोनों (जीवात्मा और परमात्मा)-में जीवात्मा प्रत्येक (अन्तःकरणका साक्षी) है और परमात्मा परोक्ष (इन्द्रियातीत) है, इस (वाच्यार्थरूप) विरोधको छोड़कर और लक्षणावृत्तिसे लक्षित उनकी शुद्ध चेतनताको ग्रहणकर उसे ही अपना आत्मा जाने और इस प्रकार एकीभावसे स्थित हो॥ २६॥

एकात्मकत्वाज्जहती न सम्भवे-
त्तथाऽजहल्लक्षणता विरोधतः।
सोऽयं पदार्थाविव भागलक्षणा
युज्येत तत्त्वं पदयोरदोषतः॥ २७॥

इन 'तत्' और 'त्वम्' पदोंमें एकरूप होनेके कारण जहतीलक्षणा नहीं हो सकती और परस्पर विरोध होनेके कारण अजहल्लक्षणा भी नहीं हो सकती। इसलिये 'सोऽयम्' (यह वही है) इन दोनों पदोंके अर्थकी भाँति इन तत् और त्वम् पदोंमें भी भागत्यागलक्षणा ही निर्दोषतासे हो सकती है*॥ २७॥

---

* जहाँ शब्दोंके वाच्यार्थ (अर्थात् उनकी शक्ति-वृत्तिसे सिद्ध होनेवाले अर्थ)-को छोड़कर दूसरा अर्थ लिया जाता है वहाँ लक्षणावृत्ति होती है। वह जहती, अजहती और जहत्यजहती नामसे तीन प्रकारकी है। जहती-लक्षणामें शब्दके वाच्यार्थका सर्वथा त्याग करके उसका बिलकुल नया ही अर्थ

आत्मा और उसकी उपाधि

रसादिपञ्चीकृतभूतसम्भवं
भोगालयं दुःखसुखादिकर्मणाम्।
शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं
मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः॥ २८॥
सूक्ष्मं मनो बुद्धिदशेन्द्रियैर्युतं
प्राणैरपञ्चीकृतभूतसम्भवम् ।

किया जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' (गंगाजीपर पशुशाला है) इस वाक्यके वाच्यार्थसे गंगाजीके प्रवाहपर पशुशालाका होना सिद्ध होता है। परन्तु यह सर्वथा असम्भव है। इसलिये यहाँ 'गंगा' शब्दका अर्थ गंगाप्रवाह न करके 'गंगा-तीर' किया जाता है। परंतु 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थ 'ईश्वर' और 'जीव'का सर्वथा त्याग कर देनेसे उन दोनोंकी चेतनताका भी त्याग हो जाता है और चेतनताकी एकता ही अभीष्ट है; इसलिये जहती-लक्षणासे इन पदोंके अर्थकी एकता नहीं हो सकती। अजहती-लक्षणामें वाच्यार्थका त्याग न करके उसके साथ अन्य अर्थ भी

भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवे-
च्छरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः॥ २९॥

ग्रहण किया जाता है। जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओंसे दहीकी रक्षा करो) इस वाक्यका अभिप्राय केवल कौओंसे दहीकी रक्षा कराना ही नहीं है बल्कि उसके साथ कुत्ता, बिल्ली आदि अन्य जीवोंसे सुरक्षित रखना भी है। यहाँ 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थोंमें विरोध है, फिर अन्य अर्थको सम्मिलित करनेसे भी वह विरोध तो दूर होगा ही नहीं। इसलिये अजहल्लक्षणासे भी इनकी एकता सिद्ध नहीं हो सकती। इन दोनोंके सिवा जहाँ कुछ अर्थ रखा जाता है और कुछ छोड़ा जाता है वह जहत्यजहती (भागत्याग) लक्षणा होती है। जैसे 'सोऽयम्' (यह वही है) इस वाक्यमें 'अयम्' पदसे कहे जानेवाले पदार्थकी अपरोक्षता और 'सः' पदके वाच्य पदार्थकी परोक्षताका त्याग करके इन दोनोंसे रहित जो निर्विशेष पदार्थ है उसकी एकता कही जाती है। इसी प्रकार महावाक्यके 'तत्' पदके वाच्य 'ईश्वर'के गुण सर्वज्ञता, परोक्षता आदिका और 'त्वम्' पदके वाच्य 'जीव'के गुण अल्पज्ञता, प्रत्यक्ता आदिका त्याग करके केवल चेतनांशमें एकता बतलायी जाती है।

पृथिवी आदि पंचीकृत भूतोंसे उत्पन्न हुए, सुख-दुःखादि कर्म-भोगोंके आश्रय और पूर्वोपार्जित कर्मफलसे प्राप्त होनेवाले इस मायामय आदि-अन्तवान् शरीरको विज्ञजन आत्माकी स्थूल उपाधि मानते हैं और मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण (इन सत्रह अंगों)-से युक्त और अपंचीकृत भूतोंसे उत्पन्न हुए सूक्ष्म शरीरको जो भोक्ताके सुख-दुःखादि अनुभवका साधन है, आत्माका दूसरा देह मानते हैं॥ २८-२९ ॥

अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं
मायाप्रधानं तु परं शरीरकम्।
उपाधिभेदात्तु यतः पृथक् स्थितं
स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत्क्रमात् ॥ ३० ॥

(इनके अतिरिक्त) अनादि और अनिर्वाच्य

मायामय कारणशरीर ही जीवका तीसरा देह है। इस प्रकार उपाधि-भेदसे सर्वथा पृथक् स्थित अपने आत्मरूपको क्रमशः (उपाधियोंका बाध करते हुए) अपने हृदयमें निश्चय करे ॥३०॥

उपाधिका बाध

कोशेष्वयं तेषु तु तत्तदाकृति-
र्विभाति सङ्गात्स्फटिकोपलो यथा।
असङ्गरूपोऽयमजो यतोऽद्वयो
विज्ञायतेऽस्मिन्परितो विचारिते॥ ३१॥

स्फटिकमणिके समान यह आत्मा भी (अन्नमयादि) भिन्न-भिन्न कोशोंमें उनके संगसे उन्हींके आकारका भासने लगता है। किन्तु इसका भली प्रकार विचार करनेसे यह अद्वितीय होनेके कारण असंगरूप और अजन्मा निश्चित होता है॥ ३१॥

बुद्धेस्त्रिधा वृत्तिरपीह दृश्यते
स्वप्नादिभेदेन गुणत्रयात्मनः।
अन्योन्यतोऽस्मिन्व्यभिचारतो मृषा
नित्ये परे ब्रह्मणि केवले शिवे॥ ३२॥

त्रिगुणात्मिका बुद्धिकी ही स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति भेदसे तीन प्रकारकी वृत्तियाँ दिखायी देती हैं, किन्तु इन तीनों वृत्तियोंमेंसे प्रत्येकका एक दूसरीमें व्यभिचार होनेके कारण, ये (तीनों ही) एकमात्र कल्याणस्वरूप नित्य परब्रह्ममें मिथ्या हैं (अर्थात् उसमें इन वृत्तियोंका सर्वथा अभाव है) ॥ ३२ ॥

देहेन्द्रियप्राणमनश्चिदात्मनां
सङ्घादजस्त्रं परिवर्तते धियः।
वृत्तिस्तमोमूलतयाऽज्ञलक्षणा
यावद्भवेत्तावदसौ भवोद्भवः ॥ ३३ ॥

बुद्धिकी वृत्ति ही देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और चेतन आत्माके संघातरूपसे निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। यह वृत्ति तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाली होनेके कारण अज्ञानरूपा है और

जबतक यह रहती है तबतक ही संसारमें जन्म होता रहता है॥ ३३॥

नेतिप्रमाणेन निराकृताखिलो
हृदा समास्वादितचिद्घनामृतः।
त्यजेदशेषं जगदात्तसद्रसं
पीत्वा यथाऽम्भः प्रजहाति तत्फलम्॥ ३४॥

'नेति-नेति' आदि श्रुति-प्रमाणसे निखिल संसारका बाध करके और हृदयमें चिद्घनामृतका आस्वादन करके सम्पूर्ण जगत्को, उसके साररूपा सत् (ब्रह्म)-को ग्रहण करके त्याग दे, जैसे नारियलके जलको पीकर मनुष्य उसे फेंक देते हैं॥ ३४॥

कदाचिदात्मा न मृतो न जायते
न क्षीयते नापि विवर्धतेऽनवः।

निरस्तसर्वातिशयः सुखात्मकः
स्वयम्प्रभः सर्वगतोऽयमद्वयः ॥ ३५ ॥

आत्मा न कभी मरता है न जन्मता है; वह न कभी क्षीण होता है और न बढ़ता ही है। वह पुरातन, सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित, सुखस्वरूप, स्वयंप्रकाश, सर्वगत और अद्वितीय है॥ ३५ ॥

अध्यास-निरूपण

एवंविधे ज्ञानमये सुखात्मके
कथं भवो दुःखमयः प्रतीयते।
अज्ञानतोऽध्यासवशात्प्रकाशते
ज्ञाने विलीयेत विरोधतः क्षणात्॥ ३६॥

जो इस प्रकार ज्ञानमय और सुखस्वरूप है उसमें (ज्ञान होनेके बाद) यह दुःखमय संसार कैसे प्रतीत हो सकता है? यह तो अध्यासके कारण अज्ञानसे ही प्रतीत होता है, ज्ञानसे तो एक क्षणमें ही लीन हो जाता है, क्योंकि ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध है॥ ३६॥

यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमा-
दध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः।
असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा
रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्॥ ३७॥

भ्रमसे जो अन्यमें अन्यकी प्रतीति होती है उसीको विद्वानोंने अध्यास कहा है। जिस प्रकार असर्परूप रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार ईश्वरमें संसारकी प्रतीति हो रही है॥ ३७॥

विकल्पमायारहिते चिदात्मके-
ऽहङ्कार एष प्रथमः प्रकल्पितः।
अध्यास एवात्मनि सर्वकारणे
निरामये ब्रह्मणि केवले परे॥ ३८॥

जो विकल्प और मायासे रहित है उस सबके कारण निरामय, अद्वितीय और चित्स्वरूप परमात्मा ब्रह्ममें पहले इस 'अहंकार' रूप अध्यासकी ही कल्पना होती है॥ ३८॥

इच्छादिरागादिसुखादिधर्मिकाः
सदा धियः संसृतिहेतवः परे।

यस्मात्प्रसुप्तौ तदभावतः परः
सुखस्वरूपेण विभाव्यते हि नः॥ ३९॥

सबके साक्षी आत्मामें इच्छा, अनिच्छा, राग-द्वेष और सुख-दुःखादिरूप बुद्धिकी वृत्तियाँ ही जन्म-मरणरूप संसारकी कारण हैं; क्योंकि सुषुप्तिमें इनका अभाव हो जानेपर हमें आत्माका सुखरूपसे भान होता है॥ ३९॥

अनाद्यविद्योद्भवबुद्धिबिम्बितो
जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः।
आत्मा धियः साक्षितया पृथक् स्थितो
बुद्ध्या परिच्छिन्नपरः स एव हि॥ ४०॥

अनादि अविद्यासे उत्पन्न हुई बुद्धिमें प्रतिबिम्बित चेतनका प्रकाश ही 'जीव' कहलाता है। बुद्धिके साक्षीरूपसे आत्मा उससे पृथक् है, वह परात्मा तो बुद्धिके परिच्छेदसे रहित है॥ ४०॥

चिद्बिम्बसाक्ष्यात्मधियां प्रसङ्गत-
स्त्वेकत्र वासादनलाक्तलोहवत्।
अन्योन्यमध्यासवशात्प्रतीयते
जडाजडत्वं च चिदात्मचेतसोः॥ ४१॥

अग्निसे तपे हुए लोहेके समान चिदाभास, साक्षी आत्मा तथा बुद्धिके एकत्र रहनेसे परस्पर अन्योन्याध्यास होनेके कारण क्रमशः उनकी चेतनता और जडता प्रतीत होती है। (अर्थात् जिस प्रकार अग्निसे तपे हुए लोहपिण्डमें अग्नि और लोहेका तादात्म्य हो जानेसे लोहेका आकार अग्निमें और अग्निकी उष्णता लोहेमें दिखायी देने लगती है उसी प्रकार बुद्धि और आत्माका तादात्म्य हो जानेसे आत्माकी चेतनता बुद्धि आदिमें और बुद्धि आदिकी जडता आत्मामें प्रतीत होने लगती है। इसलिये अध्यासवश बुद्धिसे लेकर शरीरपर्यन्तअनात्म-वस्तुओंको ही आत्मा मानने लगते हैं)॥ ४१॥

गुरोः सकाशादपि वेदवाक्यतः
सञ्जातविद्यानुभवो निरीक्ष्य तम्।
स्वात्मानमात्मस्थमुपाधिवर्जितं
त्यजेदशेषं जडमात्मगोचरम्॥ ४२॥

गुरुके समीप रहनेसे और वेदवाक्योंसे आत्मज्ञानका अनुभव होनेपर अपने हृदयस्थ उपाधिरहित आत्माका साक्षात्कार करके आत्मारूपसे प्रतीत होनेवाले देहादि सम्पूर्ण जड पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये॥ ४२॥

आत्म-चिन्तन

प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयोऽ-
सकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः।
विशुद्धविज्ञानघनो निरामयः
सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः॥ ४३॥

मैं प्रकाशस्वरूप, अजन्मा, अद्वितीय, निरन्तर भासमान, अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध विज्ञानघन, निरामय, क्रियारहित और एकमात्र आनन्दस्वरूप हूँ॥ ४३॥

सदैव मुक्तोऽहमचिन्त्यशक्तिमा-
नतीन्द्रियज्ञानमविक्रियात्मकः।
अनन्तपारोऽहमहर्निशं बुधै-
र्विभावितोऽहं हृदि वेदवादिभिः॥ ४४॥

मैं सदा ही मुक्त, अचिन्त्यशक्ति, अतीन्द्रिय,

अविकृतरूप और अनन्तपार हूँ। वेदवादी पण्डितजन अहर्निश मेरा हृदयमें चिन्तन करते हैं॥ ४४॥

एवं सदात्मानमखण्डितात्मना
विचारमाणस्य विशुद्धभावना।
हन्यादविद्यामचिरेण कारकै
रसायनं यद्वदुपासितं रुजः॥ ४५॥

इस प्रकार सदा आत्माका अखण्डवृत्तिसे चिन्तन करनेवाले पुरुषके अन्तःकरणमें उत्पन्न हुई विशुद्ध भावना तुरन्त ही कारकादिके सहित अविद्याका नाश कर देती है, जिस प्रकार नियमानुसार सेवन की हुई ओषधि रोगको नष्ट कर डालती है॥ ४५॥

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो
विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः।

विभावयेदेकमनन्यसाधनो
विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थितः ॥ ४६ ॥

(आत्मचिन्तन करनेवाले पुरुषको चाहिये कि) एकान्त देशमें इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर और अन्तःकरणको अपने अधीन करके बैठे तथा आत्मामें स्थित होकर और किसी साधनका आश्रय न लेकर शुद्धचित्त हुआ केवल ज्ञानदृष्टिद्वारा एक आत्माकी ही भावना करे॥ ४६ ॥

विश्वं यदेतत्परमात्मदर्शनं
विलापयेदात्मनि सर्वकारणे।
पूर्णश्चिदानन्दमयोऽवतिष्ठते
न वेद बाह्यं न च किञ्चिदान्तरम्॥ ४७॥

यह विश्व परमात्मस्वरूप है, ऐसा समझकर

इसे सबको कारणरूप आत्मामें लीन करे; इस प्रकार जो पूर्ण चिदानन्दस्वरूपसे स्थित हो जाता है उसे बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं रहता॥ ४७॥

ओंकारोपासना

पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तये-
दोङ्कारमात्रं सचराचरं जगत्।
तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको
विभाव्यतेऽज्ञानवशान्न बोधतः॥ ४८॥

समाधि प्राप्त होनेके पूर्व ऐसा चिन्तन करे कि सम्पूर्ण चराचर जगत् केवल ओंकारमात्र है। यह संसार वाच्य है और ओंकार इसका वाचक है। अज्ञानके कारण ही संसारकी प्रतीति होती है, ज्ञान होनेपर इसका कुछ भी नहीं रहता॥ ४८॥

अकारसंज्ञः पुरुषो हि विश्वको
ह्युकारकस्तैजस ईर्यते क्रमात्।
प्राज्ञो मकारः परिपठ्यतेऽखिलैः
समाधिपूर्वं न तु तत्त्वतो भवेत्॥ ४९॥

(ओंकारमें अ, उ और म—ये तीन वर्ण हैं; इनमेंसे) अकार विश्व (जागृतिके अभिमानी)-का वाचक है, उकार तैजस (स्वप्नका अभिमानी) कहलाता है और मकार प्राज्ञ (सुषुप्तिके अभिमानी)-को कहते हैं; यह व्यवस्था समाधिलाभसे पहलेकी है, तत्त्वदृष्टिसे ऐसा कोई भेद नहीं है॥ ४९ ॥

विश्वं त्वकारं पुरुषं विलापये-
दुकारमध्ये बहुधा व्यवस्थितम्।
ततो मकारे प्रविलाप्य तैजसं
द्वितीयवर्णं प्रणवस्य चान्तिमे॥ ५० ॥

नाना प्रकारसे स्थित अकाररूप विश्व-पुरुषको उकारमें लीन करे और ओंकारके द्वितीय वर्ण तैजसरूप उकारको उसके अन्तिम वर्ण मकारमें लीन करे॥ ५० ॥

मकारमप्यात्मनि चिद्घने परे
विलापयेत्प्राज्ञमपीह कारणम्।
सोऽहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तिमद्-
विज्ञानदृङ्मुक्त उपाधितोऽमलः॥ ५१॥

फिर कारणात्मा प्राज्ञरूप मकारको भी चिद्घनरूप परमात्मामें लीन करे; (और ऐसी भावना करे कि) वह नित्यमुक्त विज्ञानस्वरूप उपाधिहीन निर्मल परब्रह्म मैं ही हूँ॥ ५१॥

एवं सदा जातपरात्मभावनः
स्वानन्दतुष्टः परिविस्मृताखिलः।
आस्ते स नित्यात्मसुखप्रकाशकः
साक्षाद्विमुक्तोऽचलवारिसिन्धुवत्॥ ५२॥

इस प्रकार निरन्तर परात्मभावना करते-करते जो आत्मानन्दमें मग्न हो गया है तथा जिसे सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच विस्मृत हो गया है

वह नित्य आत्मानन्दका अनुभव करनेवाला जीवन्मुक्त योगी निस्तरंग समुद्रके समान साक्षात् मुक्तस्वरूप हो जाता है॥ ५२ ॥

एवं सदाऽभ्यस्तसमाधियोगिनो
निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य हि।
विनिर्जिताशेषरिपोरहं सदा
दृश्यो भवेयं जितषड्गुणात्मनः॥ ५३ ॥

इस प्रकार जो निरन्तर समाधियोगका अभ्यास करता है, जिसके सम्पूर्ण इन्द्रियगोचर विषय निवृत्त हो गये हैं तथा जिसने काम-क्रोधादि सम्पूर्ण शत्रुओंको परास्त कर दिया है, उस छहों इन्द्रियों (मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों)-को जीतनेवाले महात्माको मेरा निरन्तर साक्षात्कार होता है॥ ५३ ॥

ध्यात्वैवमात्मानमहर्निशं मुनि-
स्तिष्ठेत्सदा मुक्तसमस्तबन्धनः।

प्रारब्धमश्नन्नभिमानवर्जितो
मय्येव साक्षात्प्रविलीयते ततः॥५४॥

इस प्रकार अहर्निश आत्माका ही चिन्तन करता हुआ मुनि सर्वदा समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर रहे तथा (कर्ता-भोक्तापनके) अभिमानको छोड़कर प्रारब्धफल भोगता रहे। इससे वह अन्तमें साक्षात् मुझहीमें लीन हो जाता है॥५४॥

आत्म-चिन्तनकी आवश्यकता

आदौ च मध्ये च तथैव चान्ततो
भवं विदित्वा भयशोककारणम्।
हित्वा समस्तं विधिवादचोदितं
भजेत्स्वमात्मानमथाखिलात्मनाम्॥ ५५॥

संसारको आदि, अन्त और मध्यमें सब प्रकार भय और शोकका ही कारण जानकर समस्त वेदविहित कर्मोंको त्याग दे तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मारूप अपने आत्माका भजन करे॥ ५५॥

आत्मन्यभेदेन विभावयन्निदं
भवत्यभेदेन मयात्मना तदा।
यथा जलं वारिनिधौ यथा पयः
क्षीरे वियद्व्योम्न्यनिले यथानिलः॥ ५६॥

जिस प्रकार समुद्रमें जल, दूधमें दूध, महाकाशमें घटाकाशादि और वायुमें वायु मिलकर एक हो जाते हैं उसी प्रकार इस सम्पूर्ण प्रपंचको अपने आत्माके साथ अभिन्नरूपसे चिन्तन करनेसे जीव मुझ परमात्माके साथ अभिन्नभावसे स्थित हो जाता है॥ ५६॥

इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो
जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः।
निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो
यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः॥ ५७॥

यह जो जगत् है वह श्रुति, युक्ति और प्रमाणसे बाधित होनेके कारण चन्द्रभेद और दिशाओंमें होनेवाले दिग्भ्रमके समान मिथ्या ही है—ऐसी भावना करता हुआ लोक (व्यवहार)-में स्थित मुनि, इसे देखे॥ ५७॥

यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं
तावन्मदाराधनतत्परो भवेत्।
श्रद्धालुरत्यूर्जितभक्तिलक्षणो
यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि॥५८॥

जबतक सारा संसार मेरा ही रूप दिखलायी न दे, तबतक निरन्तर मेरी आराधना करता रहे। जो श्रद्धालु और उत्कट भक्त होता है उसे अपने हृदयमें मेरा रात-दिन साक्षात्कार होता है॥५८॥

उपदेशका उपसंहार

रहस्यमेतच्छ्रुतिसारसङ्ग्रहं
मया विनिश्चित्य तवोदितं प्रिय।
यस्त्वेतदालोचयतीह बुद्धिमान्
स मुच्यते पातकराशिभिः क्षणात्॥ ५९॥

हे प्रिय! सम्पूर्ण श्रुतियोंके साररूप इस गुप्त रहस्यको मैंने निश्चय करके तुमसे कहा है। जो बुद्धिमान् इसका मनन करेगा वह तत्काल समस्त पापोंसे मुक्त हो जायगा॥ ५९॥

भ्रातर्यदीदं परिदृश्यते जग-
न्मायैव सर्वं परिहृत्य चेतसा।
मद्भावनाभावितशुद्धमानसः
सुखी भवानन्दमयो निरामयः॥ ६०॥

भाई! यह जो कुछ जगत् दिखायी देता है वह सब माया है। इसे अपने चित्तसे निकालकर

मेरी भावनासे शुद्धचित्त और सुखी होकर आनन्दपूर्ण और क्लेशशून्य हो जाओ॥ ६०॥

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥ ६१॥

जो पुरुष अपने चित्तसे मुझ गुणातीत निर्गुणका अथवा कभी-कभी मेरे सगुण स्वरूपका भी सेवन करता है वह मेरा ही रूप है। वह अपनी चरण-रजके स्पर्शसे सूर्यके समान सम्पूर्ण त्रिलोकीको पवित्र कर देता है॥ ६१॥

विज्ञानमेतदखिलं श्रुतिसारमेकं
वेदान्तवेद्यचरणेन मयैव गीतम्।
यः श्रद्धया परिपठेद् गुरुभक्तियुक्तो
मद्रूपमेति यदि मद्वचनेषु भक्तिः॥ ६२॥

यह अद्वितीय ज्ञान समस्त श्रुतियोंका एकमात्र सार है। इसे वेदान्तवेद्य भगवत्पाद मैंने ही कहा है। जो गुरुभक्तिसम्पन्न पुरुष इसका श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा उसकी यदि मेरे वचनोंमें प्रीति होगी तो वह मेरा ही रूप हो जायगा॥ ६२॥

इति श्रीमदध्यात्मरामायणोत्तरकाण्डान्तर्गता
श्रीरामगीता सम्पूर्णा।

श्रीराम-स्तवनम्

भवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्॥

अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः॥

शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः।
अजितः खड्गधृग् विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः॥

सेनानीर्ग्रामणीश्च त्वं बुद्धिः सत्त्वं क्षमा दमः।
प्रभवश्चाप्ययश्च त्वमुपेन्द्रो मधुसूदनः॥

इन्द्रकर्मा महेन्द्रस्त्वं पद्मनाभो रणान्तकृत्।
शरण्यं शरणं च त्वामाहुर्दिव्या महर्षयः॥

सहस्त्रशृङ्गो वेदात्मा शतशीर्षो महर्षभः।
त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्ता स्वयंप्रभुः॥

सिद्धानामपि साध्यानामाश्रयश्चासि पूर्वजः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारः परात्परः॥

प्रभवं निधनं चापि नो विदुः को भवानिति।
दृश्यसे सर्वभूतेषु गोषु च ब्राह्मणेषु च॥

दिक्षु सर्वासु गगने पर्वतेषु नदीषु च।
सहस्त्रचरणः श्रीमाञ्शतशीर्षः सहस्त्रदृक्॥

त्वं धारयसि भूतानि पृथिवीं सर्वपर्वतान्।
अन्ते पृथिव्याः सलिले दृश्यते त्वं महोरगः॥

त्रीँल्लोकान् धारयन् राम देवगन्धर्वदानवान्।
अहं ते हृदयं राम जिह्वा देवी सरस्वती॥

देवा रोमाणि गात्रेषु ब्रह्मणा निर्मिताः प्रभो।
निमेषस्ते स्मृता रात्रिरुन्मेषो दिवसस्तथा॥

संस्कारास्त्वभवन् वेदा नैतदस्ति त्वया विना।
जगत् सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्॥

अग्निः कोपः प्रसादस्ते सोमः श्रीवत्सलक्षणः।
त्वया लोकास्त्रयः क्रान्ताः पुरा स्वैर्विक्रमैस्त्रिभिः॥

महेन्द्रश्च कृतो राजा बलिं बद्ध्वा सुदारुणम्।
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः॥

वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्।
तदिदं नस्त्वया कार्यं कृतं धर्मभृतां वर॥

निहतो रावणो राम प्रहृष्टो दिवमाक्रम।
अमोघं देव वीर्यं ते न तेऽमोघाः पराक्रमाः॥

अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः।
अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि॥

ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्।
प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च॥

इममार्षं स्तवं दिव्यमितिहासं पुरातनम्।
ये नराः कीर्तयिष्यन्ति नास्ति तेषां पराभवः॥

(वा० रा०, युद्धकाण्ड ११७।१३—३२)

भगवान् श्रीरामका ध्यान

लोमश उवाच

अयोध्यानगरे रम्ये चित्रमण्डपशोभिते।
ध्यायेत् कल्पतरोर्मूले सर्वकामसमृद्धिदम्॥

महामरकतस्वर्णनीलरत्नादिशोभितम्।
सिंहासनं चित्तहरं कान्त्या तामिस्त्रनाशनम्॥

तत्रोपरि समासीनं रघुराजं मनोहरम्।
दूर्वादलश्यामतनुं देवं देवेन्द्रपूजितम्॥

राकायां पूर्णशीतांशुकान्तिधिक्कारिवक्त्रिणम्।
अष्टमीचन्द्रशकलसमभालाधिधारिणम्॥

नीलकुन्तलशोभाढ्यं किरीटमणिरञ्जितम्।
मकराकारसौन्दर्यकुण्डलाभ्यां विराजितम्॥

विद्रुमप्रभसत्कान्तिरदच्छदविराजितम् ।
तारापतिकराकारद्विजराजिसुशोभितम् ॥

जपापुष्पाभया मध्व्या जिह्वयाशोभिताननम् ।
यस्यां वसन्ति निगमा ऋगाद्याः शास्त्रसंयुताः ॥

कम्बुकान्तिधरग्रीवाशोभया समलंकृतम् ।
सिंहवदुच्चकौ स्कन्धौ मांसलौ विभ्रतं वरम् ॥

बाहू दधानं दीर्घाङ्गौ केयूरकटकाङ्कितौ ।
मुद्रिकाहारिशोभाभिर्भूषितौ जानुलम्बिनौ ॥

वक्षो दधानं विपुलं लक्ष्मीवासेन शोभितम् ।
श्रीवत्सादिविचित्राङ्कैरङ्कितं सुमनोहरम् ॥

महोदरं महानाभिं शुभकट्या विराजितम् ।
काञ्च्या वैमणिमय्या च विशेषेण श्रियान्वितम् ॥

ऊरुभ्यां विमलाभ्यां च जानुभ्यां शोभितं श्रिया ।
चरणाभ्यां वज्ररेखायवाङ्कुशसुरेखया ॥

युताभ्यां योगिध्येयाभ्यां कोमलाभ्यां विराजितम्।
ध्यात्वा स्मृत्वा च संसारसागरं त्वं तरिष्यसि॥

तमेव पूजयेन्नित्यं चन्दनादिभिरिच्छया।
प्राप्नोति परमामृद्धिमैहिकामुष्मिकीं पराम्॥

त्वया पृष्टं महाराज रामस्य ध्यानमुत्तमम्।
तत् ते कथितमेतद् वै संसारजलधिं तर॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ३५। ५६—७०)

महर्षि लोमश आरण्यक मुनिसे कहते हैं—रमणीय अयोध्यानगरी परम चित्र-विचित्र मण्डपोंसे शोभा पा रही है। उसके भीतर एक कल्पवृक्ष है, जिसके मूलभागमें परम मनोहर सिंहासन विराजमान है। वह सिंहासन बहुमूल्य मरकतमणि, सुवर्ण तथा नीलमणि आदिसे सुशोभित है और

अपनी कान्तिसे गहन अन्धकारका नाश कर रहा है। वह सब प्रकारकी मनोऽभिलषित समृद्धियोंको देनेवाला है। उसके ऊपर भक्तोंका मन मोहनेवाले श्रीरघुनाथजी बैठे हुए हैं। उनका दिव्य विग्रह दूर्वादलके समान श्याम है, जो देवराज इन्द्रके द्वारा पूजित होता है। भगवान्का सुन्दर मुख अपनी शोभासे पौर्णमासीके पूर्ण चन्द्रकी कमनीय कान्तिको भी तिरस्कृत कर रहा है। उनका तेजस्वी ललाट अष्टमीके अर्धचन्द्रकी सुषमा धारण करता है। मस्तकपर काले-काले घुँघराले केश शोभा पा रहे हैं। मुकुटकी मणियोंसे उनका मुखमण्डल उद्भासित हो रहा है। कानोंमें पहने हुए मकराकार कुण्डल अपने सौन्दर्यसे भगवान्की शोभा

बढ़ा रहे हैं। मूँगेके समान सुन्दर कान्ति धारण करनेवाले लाल-लाल ओठ बड़े मनोहर जान पड़ते हैं। चन्द्रमाकी किरणोंसे होड़ लगानेवाली दन्तपंक्तियों तथा जवाकुसुमके समान रंगवाली जिह्वाके कारण उनके श्रीमुखका सौन्दर्य और भी बढ़ गया है। शंखके आकारवाला कमनीय कण्ठ, जिसमें ऋक् आदि चारों वेद तथा सम्पूर्ण शास्त्र निवास करते हैं, उनके श्रीविग्रहको सुशोभित कर रहा है। श्रीरघुनाथजी सिंहके समान ऊँचे और सुपुष्ट कन्धेवाले हैं। वे केयूर एवं कड़ोंसे विभूषित विशाल भुजाएँ धारण किये हुए हैं। अंगूठीमें जड़े हुए हीरेकी शोभासे देदीप्यमान उनकी वे दोनों बाँहें घुटनोंतक लम्बी हैं। विस्तृत वक्षःस्थल लक्ष्मीके निवाससे शोभा पा रहा है। श्रीवत्स

आदि चिह्नोंसे अंकित होनेके कारण भगवान् अत्यन्त मनोहर जान पड़ते हैं। महान् उदर, गहरी नाभि तथा सुन्दर कटिभाग उनकी शोभा बढ़ाते हैं। रत्नोंकी बनी हुई करधनीके कारण श्रीअंगोंकी सुषमा बहुत बढ़ गयी है। निर्मल ऊरु और सुन्दर घुटने भी सौन्दर्यवृद्धिमें सहायक हो रहे हैं। भगवान्‌के चरण, जिनका योगीगण ध्यान करते हैं, बड़े कोमल हैं। उनके तलवेमें वज्र, अंकुश और यव आदिकी उत्तम रेखाएँ हैं। उन युगल-चरणोंसे श्रीरघुनाथजीके विग्रहकी बड़ी शोभा हो रही है।

इस प्रकार ध्यान और स्मरण करके तुम संसार-सागरसे तर जाओगे। जो मनुष्य प्रतिदिन चन्दन आदि सामग्रियोंसे इच्छानुसार श्रीरामचन्द्रजीका पूजन करता

है, उसे इहलोक और परलोकको उत्तम समृद्धि प्राप्त होती है। तुमने श्रीरामके श्रेष्ठ ध्यानका प्रकार पूछा था सो मैंने बता दिया। इसके अनुसार ध्यान करके तुम संसार-सागरसे पार हो जाओ।